



संघ लोक सेवा आयोग (UPSC)

दर्शनशास्त्र (वैकल्पिक विषय)

धर्म दर्शन



641, प्रथम तल, डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली-110009


दूरभाष : 011-47532596, 8750187501

टोल फ्री : 1800-121-6260

Web : www.drishtiiias.com

E-mail : online@groupdrishti.com

पाठ्यक्रम, नोट्स तथा बैठक संबंधी updates निरंतर पाने के लिए निम्नलिखित पेज को "like" करें

 www.facebook.com/drishtithevisionfoundation

 www.twitter.com/drishtiiias

विषय सूची (Contents)

1. धर्म एवं धर्म दर्शन	5-33
2. ईश्वर की धारणा	34-49
3. ईश्वर के अस्तित्व संबंधी प्रमाण और उनकी मीमांसा	50-63
4. अशुभ की समस्या	64-73
5. आत्मा की अमरता	74-80
6. तर्कबुद्धि, श्रुति एवं आस्था	81-85
7. मुक्ति/मोक्ष	86-103
8. पुनर्जन्म: भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन	104-107
9. धार्मिक अनुभव	108-112
10. ईश्वर रहित धर्म/निरीश्वरवादी धर्म	113-120
11. धर्म एवं नैतिकता की अवधारणाएँ	121-125
12. धार्मिक बहुलवाद एवं निरपेक्ष सत्य की समस्या	126-129
13. धार्मिक भाषा की प्रकृति	130-136

धर्म एवं धर्म दर्शन (Religion and Philosophy of Religion)

धर्म दर्शन उस दार्शनिक क्रिया का नाम है जो धर्म का बौद्धिक विवेचन करता है। जब दर्शन धर्म से संबंधित सभी महत्वपूर्ण विषयों की सुव्यवस्थित एवं निष्पक्ष परीक्षण करता है तो उसे 'धर्म दर्शन' की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार धर्म दर्शन का उद्देश्य व्यवस्थित रूप से धर्म को समझना है। धर्म दर्शन उन सभी समस्याओं, मान्यताओं, सिद्धांतों और विश्वासों का तर्कसंगत अध्ययन तथा निष्पक्ष मूल्यांकन करता है जिनका संबंध धर्म से है। धर्म दर्शन का संबंध धर्म के उन सभी पक्षों से भी है जिनके विषय में हम सत्य अथवा मिथ्या होने का प्रश्न उठा सकते हैं और जिसका निष्पक्ष एवं तर्कसंगत मूल्यांकन संभव है। धर्म दर्शन का उद्देश्य किसी व्यक्ति को आस्तिक या नास्तिक बनाना नहीं है और न ही किसी धर्म के पक्ष या विपक्ष में प्रचार करना है। बल्कि मनुष्य के धार्मिक जीवन से संबंधित सभी पक्षों को भलीभाँति समझना एवं उनका तर्कसंगत तथा निष्पक्ष मूल्यांकन करना है।

धर्म का अभिप्राय (Meaning of Religion)

धर्म दर्शन की प्राथमिक समस्याओं में से एक है- धर्म की परिभाषा निर्धारित करना। धर्म की परिभाषा निर्धारित करना अत्यंत कठिन कार्य है क्योंकि एक तो धर्म सतत् परिवर्तनशील है; दूसरे, विभिन्न धर्मों में समानताएँ कम, विभिन्नताएँ अधिक हैं। सभी धर्मों में निहित इस वैविध्य को समेटते हुए विभिन्न चिंतकों ने धर्म की परिभाषा देने का प्रयास किया है। जेम्स एच. ल्यूबा ने अपनी पुस्तक 'धर्म का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' में धर्म की पचास से अधिक परिभाषाओं का जिक्र किया है और जॉन मार्ले ने तो धर्म की 10,000 परिभाषाएँ बताई हैं, जिससे पता चलता है कि धर्म की कोई एक परिभाषा देना लगभग असंभव है। जॉन हिक ने कहा भी है कि धर्म को परिभाषित करने की कोशिश के स्थान पर सिर्फ उसके लक्षणों की सूची ही बनाई जानी चाहिये। यदि विश्व के विभिन्न धर्मों का विश्लेषण किया जाए तो कुछ लक्षण इस प्रकार तय किये जा सकते हैं-

1. धर्म एक व्यापक अभिवृत्ति है जिसमें ज्ञानात्मक, भावनात्मक व क्रियात्मक पक्ष निहित होते हैं।
2. धर्म व्यक्ति के संपूर्ण जीवन को गहराई से प्रभावित करता है, न कि आंशिक रूप से।
3. प्रत्येक धर्म अपने ज्ञानात्मक पक्ष में किसी-न-किसी अलौकिक सत्ता या अवस्था को स्वीकार करता है। यह सत्ता ईश्वर ही हो, यह आवश्यक नहीं है। ईश्वर, आत्मा, स्वर्ग या मोक्ष जैसी कोई भी धारणा इसमें हो सकती है।
4. भावनात्मक पक्ष के अंतर्गत प्रत्येक धर्म दुःख-मुक्ति का आश्वासन देता है।
5. धर्म के अनुयायी विश्वासों के प्रति अखंड तथा निबौद्धिक आस्था रखते हैं जिस पर वह कभी संशय नहीं कर सकते।
6. धर्म के अनुयायी अपने धार्मिक प्रतीकों के प्रति पवित्रता की भावना महसूस करते हैं तथा उन्हें अन्य सभी वस्तुओं से उच्च मानते हैं।
7. धर्म व्यक्ति के जीवन में निहित असुरक्षा की भावना को दूर करता है।
8. क्रियात्मक पक्ष के अंतर्गत प्रत्येक धर्म प्रार्थना तथा कर्मकांडों की निश्चित व्यवस्था करता है ताकि धर्म के अनुयायी अपनी आस्था व श्रद्धा को अभिव्यक्त कर सकें।
9. प्रत्येक धर्म अपने अनुयायियों हेतु निश्चित आचरण-विधि प्रस्तावित करता है जो उस धर्म की दृष्टि में नैतिक व्यवस्था कहलाती है।

ईश्वर की धारणा (Notion of God)

ईश्वर के अस्तित्व/नास्तित्व के संबंध में प्रमुख धारणाएँ

ईश्वर संबंधी धारणाओं का वर्गीकरण कई भिन्न-भिन्न आधारों पर किया जा सकता है। ईश्वर की सत्ता है या नहीं- इस आधार पर प्रमुखतः तीन धारणाएँ मिलती हैं- निरीश्वरवाद, अज्ञेयवाद तथा ईश्वरवाद। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

(i) निरीश्वरवाद (Atheism)

वह विचार जो ईश्वर की सत्ता संबंधी विश्वास का खंडन करता है, निरीश्वरवाद या अनीश्वरवाद (Atheism) कहलाता है। भारत और पश्चिमी दोनों ही परंपराओं में कई ऐसे दर्शन तथा धर्म हैं जो निरीश्वरवाद में विश्वास रखते हैं। चार्वाक दर्शन, जैन धर्म, हीनयानी बौद्ध धर्म, सांख्य दर्शन तथा मीमांसा दर्शन भारतीय परंपरा में निरीश्वरवादी हैं। पाश्चात्य दर्शन में सोफिस्ट दार्शनिकों, डेमोक्रीटस, ह्यूम, तार्किक भाववादियों और सार्त्र जैसे दार्शनिकों ने निरीश्वरवाद को स्वीकार किया है। आधुनिक मानववादी दार्शनिकों ने भी निरीश्वरवाद पर ही बल दिया है जिनमें कार्ल मार्क्स व अन्य मार्क्सवादी चिंतक, आगस्ट कॉम्ट जैसे मानववादी चिंतक तथा एम.एन. रॉय जैसे आमूल मानववादी चिंतक शामिल हैं।

(ii) अज्ञेयवाद (Agnosticism)

अज्ञेयवाद वह विचार है जिसके अनुसार ईश्वर की सत्ता का ज्ञान प्राप्त करना मानवीय क्षमताओं से परे है। मनुष्य अपने अनुभव और बुद्धि से न तो ईश्वर के अस्तित्व को जान सकता है और न ही नास्तित्व को। यह विचार कांट ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'शुद्ध बुद्धि की समीक्षा' (Critique of Pure Reason) में प्रस्तुत किया है। समकालीन दर्शन में विलियम जेम्स ने माना है कि वास्तविक रूप से अज्ञेयवाद ही ठीक विचार है किंतु धार्मिक संतुष्टि की व्यावहारिक उपयोगिता को देखते हुए उसने ईश्वरवाद को महत्त्व दिया। टी.एच. हक्सले तथा क्लिफोर्ड इत्यादि दार्शनिकों ने भी अज्ञेयवाद को ही स्वीकार किया है।

(iii) ईश्वरवाद (Theism)

सामान्य अर्थ में ईश्वरवाद वह विचार है जिसके अनुसार ईश्वर की वास्तविक सत्ता है। यह धारणा दुनिया के अधिकांश धर्मों जैसे-यहूदी, ईसाई, इस्लाम, पारसी, हिन्दू, सिख इत्यादि में स्वीकार की गई है। भारतीय दर्शन में न्याय, वैशेषिक, योग तथा वेदांत दर्शनों ने ईश्वर की सत्ता को स्वीकारा है। पाश्चात्य दर्शन में प्लेटो, अरस्तू, डेकार्ट, स्पिनोजा, लाइबनिज़, डेकार्ट तथा बर्कले इत्यादि दार्शनिकों ने ईश्वर को माना है।

ईश्वर की संख्या के संबंध में प्रमुख धारणाएँ

जो धर्म या विचारक ईश्वर की सत्ता में विश्वास रखते हैं, उनके सामने प्रमुख प्रश्न यह है कि ईश्वर एक है या एकाधिक। इस संबंध में विभिन्न धर्मों में प्रमुखतः चार विकल्प मिलते हैं जो इस प्रकार हैं-

(i) अनेकेश्वरवाद (Polytheism)

अनेकेश्वरवाद का अर्थ है अनेक ईश्वरों की सत्ता में विश्वास करना। यह विचार मुख्यतः प्राकृतिक धर्मों के समय विकसित हुआ क्योंकि आदिम धर्मों में तो ईश्वर की धारणा विकसित नहीं हुई थी जबकि

ईश्वर के अस्तित्व संबंधी प्रमाण और उनकी मीमांसा (Proofs for the Existence of God and their Critique)

सृष्टि मूलक प्रमाण (Cosmological Argument)

ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये दिये गए प्रमाणों में से एक महत्वपूर्ण प्रमाण सृष्टिमूलक प्रमाण है। यह एक आनुभविक, परंपरागत तथा संज्ञानात्मक प्रमाण है। इस प्रमाण के अंतर्गत सृष्टि (Cosmos) के कर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध किया जाता है। धार्मिक व्यक्तियों के लिये यह सबसे सहज और अत्यधिक स्वीकृत प्रमाणों में से एक है।

सृष्टिमूलक प्रमाण का सांकेतिक समर्थन सबसे पहले प्लेटो की कुछ रचनाओं में तथा अरस्तू के दर्शन में उपलब्ध होता है। संत थॉमस एक्वाइनस ने 'सम्मा थियोलोजिका' में ईश्वर के अस्तित्व सिद्धि हेतु जो पाँच प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, उनमें से पहले तीन सृष्टिमूलक प्रमाण के ही विभिन्न रूप हैं। आगे चलकर डेकार्ट और लाइबनिज़ इत्यादि पाश्चात्य दार्शनिकों ने भी इस तर्क का समर्थन किया है। जहाँ तक भारतीय दर्शन का प्रश्न है, प्रसिद्ध न्याय दार्शनिक उदयनाचार्य तथा अद्वैत वेदांतियों ने इस प्रमाण का समर्थन किया है।

सृष्टिमूलक प्रमाण एक आनुभविक प्रमाण है जो सृष्टि के सूक्ष्म निरीक्षण के आधार पर प्रस्तुत किया जाता है। सृष्टि में कई ऐसे संदर्भ हैं जो सृष्टि के मूल में किसी परम सत्ता का संकेत करते हैं। ऐसे तीन संदर्भ हैं और इन्हीं तीन के आधार पर सृष्टिमूलक प्रमाण के तीन रूप माने गए हैं—

1. गतिमूलक प्रमाण।
2. आकस्मिकता/आपातिकता संबंधी प्रमाण।
3. कारणतामूलक प्रमाण।

गतिमूलक प्रमाण

गतिमूलक प्रमाण मुख्यतः अरस्तू द्वारा प्रतिपादित किया गया है और संत एक्वाइनस ने इसका समर्थन किया है। हम देखते हैं कि ब्रह्मांड की अनेक वस्तुओं में गति पाई जाती है। एक गति दूसरी गति से जन्म लेती है और तीसरी गति को जन्म देती है। हवा से बादलों में गति आती है, बादलों से वर्षा होती है, जल समुद्र की ओर गतिशील है और सूर्य की ऊष्मा से पुनः गति के साथ ऊपर उठता है। प्रश्न है कि इस संपूर्ण गति का आधार क्या है? यदि इसे अनवरत शृंखला मान लें तो अनवस्था दोष उत्पन्न होता है। इससे बचने के लिये आवश्यक है कि एक ऐसी सत्ता का अस्तित्व माना जाए जो स्वयं गतिहीन होते हुए भी समस्त गति का कारण हो। यह सत्ता ही ईश्वर है। अरस्तू ने इसी को गतिहीन चालक (Unmoved Mover) कहा है।

आलोचना

1. गतिहीन सत्ता तार्किक रूप से गति नहीं दे सकती है क्योंकि अभाव से अभाव का ही जन्म हो सकता है, भाव का नहीं।
2. यदि इस तर्क को मान भी लें तो इससे सिर्फ एक गति प्रदाता शक्ति का अस्तित्व सिद्ध होता है, सर्वशक्तिमान और दयालु ईश्वर का नहीं।

अशुभ की समस्या (Problem of Evil)

सामान्यतः अशुभ वह है जो प्राणी अथवा प्राणियों के लिये दुःखद, अहितकर या अमंगलमय है। इस अर्थ में अशुभ को बुराई का पर्यायवाची माना जा सकता है। अशुभ जीवन में दुःखपूर्ण शारीरिक और मानसिक स्थिति को व्यक्त करता है। संसार में दुःख, भय, पाप, अज्ञानता, कुरूपता, बाढ़, भूकंप, अकाल आदि अशुभ माने जाते हैं। अशुभ केवल प्राणियों के लिये ही कष्टमय नहीं होता बल्कि वह मनुष्य की पूर्णता के पुनीत कार्यों में बाधक भी होता है। अशुभ प्राणियों के साक्षात् अनुभव के विषय है। जीवन के कटु अनुभव भी विश्व में अशुभ की उपस्थिति का समर्थन करते हैं। गौतम बुद्ध ने भी बहुत पहले ही संसार में सर्वत्र दुःख की उपस्थिति के रूप में अशुभ को भलीभाँति जान लिया था। उनकी भाँति कई अन्य दार्शनिकों ने भी दुःख के रूप में अशुभ की यथार्थ सत्ता को स्वीकार किया है।

अशुभ की समस्या का वर्गीकरण

अशुभ के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिये धर्म-दार्शनिकों द्वारा इसे मुख्यतः दो वर्गों में विभाजित किया गया है- पहला भौतिक या प्राकृतिक अशुभ, दूसरा नैतिक अशुभ। प्राकृतिक या भौतिक अशुभ विभिन्न प्रकार की प्राकृतिक विपत्तियों तथा अनेक शारीरिक एवं मानसिक रोगों के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। प्राकृतिक अशुभ के मूल कारण या स्रोत प्रकृति में निहित होते हैं। इस अशुभ के मूल कारणों पर प्राणियों का नियंत्रण नहीं होता है। प्राकृतिक अशुभ के अंतर्गत बाढ़, भूकंप, अकाल, आदि को शामिल किया जा सकता है। प्राकृतिक अशुभ के मूल कारण स्वयं प्रकृति में निहित होने का कारण इसके लिये मनुष्यों या अन्य प्राणियों को दोषी नहीं माना जाता है। प्राकृतिक अशुभ के अतिरिक्त विश्व में नैतिक अशुभ भी विद्यमान होता है। नैतिक अशुभ मनुष्य के नकारात्मक क्रियाकलापों से उत्पन्न होते हैं। ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिशोध की भावना, लालच, वासना, मोह, घृणा आदि दुर्गुणों से प्रेरित होकर स्वेच्छया किये जाने वाले मानवीय दुराचरण को ही 'नैतिक अशुभ' की संज्ञा दी जाती है। प्राकृतिक अशुभ के विपरीत मनुष्य नैतिक अशुभ को जान-बूझकर उत्पन्न करता है। जहाँ प्राकृतिक अशुभ के लिये मनुष्य को नैतिक रूप से जिम्मेदार नहीं माना गया है वहीं नैतिक अशुभ के लिये मनुष्य को उत्तरदायी माना गया है। प्राकृतिक एवं नैतिक अशुभ के मध्य पर्याप्त विभिन्नता के बावजूद भी इन दोनों में परस्पर घनिष्ठ संबंध भी देखे जा सकते हैं। कुछ परिस्थितियों में प्राकृतिक अशुभ नैतिक अशुभ को और नैतिक अशुभ प्राकृतिक अशुभ को उत्पन्न करती है, जैसे- बाढ़, अकाल एवं महामारी की स्थिति में हिंसा, स्वार्थपरकता आदि को बढ़ावा मिलता है। पुनः भौतिक संवृद्धि के लिये औद्योगीकरण को बढ़ावा देने से पर्यावरण प्रदूषित होता है, जिसके कारण प्राकृतिक अशुभ की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ के मध्य भिन्नता होने के बावजूद उनमें परस्पर घनिष्ठ संबंध देखे जा सकते हैं।

अशुभ की समस्या का स्वरूप

अशुभ की तार्किक समस्या सिर्फ ईश्वरवादी धर्मों के समक्ष चुनौती उत्पन्न करती है। इसका मूल कारण यह है कि सिर्फ ईश्वरवादी धर्मों में ही ईश्वर की वह व्यक्तित्वपूर्ण धारणा मानी गई है जिसमें उसे 'सर्वशक्तिमान' तथा 'पूर्णतः शुभ' कहा गया है। विश्व के अधिकांश धर्म इस तार्किक समस्या में नहीं उलझते, क्योंकि वे पहले दोनों तर्क वाक्यों अर्थात् 'ईश्वर सर्वशक्तिमान है' तथा 'ईश्वर पूर्णतः शुभ है' में विश्वास ही नहीं करते।

विश्व के प्राचीनतम धर्म आदिम धर्म हैं जिनमें ईश्वर की धारणा ही नहीं पाई जाती। अतः उनके सामने अशुभ की समस्या व्यावहारिक रूप में भले ही हो, तार्किक रूप में नहीं है।

आत्मा की अमरता (Immortality of Soul)

आत्मा की अमरता धर्मदर्शन की महत्वपूर्ण समस्याओं में से एक है। धर्म के उद्भव से लेकर आध्यात्मिक धर्मों के विकास तक की संपूर्ण प्रक्रिया में विश्व के लगभग सभी धर्मों में आत्मा की अमरता का विश्वास दिखाई पड़ता है। यहाँ आत्मा का अर्थ एक चेतन द्रव्य (Conscious Substance) से है जो शरीर, बुद्धि तथा मन से भिन्न है तथा जो शरीर की मृत्यु के बाद भी समाप्त नहीं होता। मनोवैज्ञानिकों की राय है कि जिस प्रकार धर्म का विकास मानव की असुरक्षा का परिणाम है, वैसे ही आत्मा की अमरता का विश्वास मृत्यु के भय का परिणाम है। सिग्मंड फ्रॉयड ने स्पष्टतः माना है कि मनुष्य ने मृत्यु बोध से उत्पन्न होने वाली असुरक्षा से बचने के लिये तथा अपने अस्तित्व को स्थायी बनाए रखने की इच्छा के कारण आत्मा की अमरता के विश्वास को जन्म दिया। यदि यह विश्वास धर्मों द्वारा विकसित न किया जाता तो मनुष्य के जीवन में घोर असुरक्षा तथा निराशा की भावना पैदा हो जाती तथा वह अपनी विकास यात्रा में पर्याप्त गति से न बढ़ पाता।

अमरता के विश्वास की व्यापकता

आत्मा की धारणा आदिम धर्मों से ही दिखाई देने लगती है। टायलर तथा फ्रेजर ने बताया है कि 'सर्वजीववाद' (Animism) नामक आदिम धर्म में आत्मा का विचार स्थूल रूप में दिखाई देने लगता है। आदिम धर्म के ही दूसरे प्रकार 'प्राणवाद' (Spiritism) में पहली बार यह विचार विकसित हुआ कि आत्मा भौतिक वस्तु या शरीर से स्वतंत्र भी हो सकती है। भारत के वैदिक दर्शन में नित्य आत्मा की धारणा पहली बार सूक्ष्म तथा व्यवस्थित रूप में विकसित हुई। आगे चलकर जैन तथा कन्फ्यूशियन धर्मों ने छठी शताब्दी ई.पू. में इसे स्वीकारा। इसके तुरंत बाद ग्रीक दार्शनिकों पाइथागोरस तथा प्लेटो के दर्शन में आत्मा की धारणा तथा आवागमन का सिद्धांत स्वीकार किया गया। आगे चलकर यहूदी, ईसाई, इस्लाम, पारसी तथा सिख धर्मों में भी आत्मा की अमरता का विश्वास माना गया है। स्पष्ट है कि विश्व के अधिकांश धर्म आत्मा के अमरत्व में आस्था रखते हैं। बौद्ध धर्म एकमात्र पारंपरिक धर्म है जिसने आत्मा की धारणा का खंडन करते हुए चेतना की व्याख्या सिर्फ एक प्रवाह के रूप में की है। यदि 19वीं और 20वीं सदी के प्रकृतिवादी और मानववादी धर्मों पर ध्यान दें तो वे भी प्रत्येक अलौकिक विश्वास की तरह आत्मा और उसकी अमरता का खंडन करते हैं। इन धर्मों के अतिरिक्त भारतीय दर्शन में चार्वाक दर्शन में और पाश्चात्य दर्शन में डेविड ह्यूम, विलियम जेम्स, समकालीन दार्शनिकों तथा भौतिकवादियों ने आत्मा की धारणा को खारिज किया है। इसके बावजूद यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि आज भी विश्व के अधिकांश व्यक्ति अपनी-अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार आत्मा की अमरता में विश्वास रखते हैं।

अमरता का अर्थ

ध्यातव्य है कि यहाँ आत्मा की अमरता का प्रयोग पारलौकिक अर्थ में ही किया जा रहा है, न कि लौकिक अर्थ में। कुछ भौतिकवादी व मानववादी दार्शनिकों ने आत्मा की अमरता की व्याख्या जैविक अमरता (Biological Immortality) तथा सामाजिक अमरता (Social Immortality) के रूप में की है। जैविक अमरता का अर्थ है कि कोई भी प्राणी या मनुष्य इस अर्थ में अमर है कि वह अपनी मृत्यु के बाद भी अपनी संतान के रूप में जीवित रहता है। किंतु यह विश्वास न तो संतोषजनक है और न ही सभी पर लागू होता है। बहुत से व्यक्ति कम आयु में ही मर जाते हैं तो बहुत से व्यक्ति अविवाहित रहने या किसी शारीरिक समस्या के कारण माता-पिता नहीं बन पाते। यदि अमरता का अर्थ सिर्फ जैविक अमरता हो तो यह सभी व्यक्तियों को उपलब्ध नहीं हो पाएगी। फिर, अपनी संतान के रूप में जीवित रहना किसी प्राणी को वह आश्वासन नहीं दे पाता जो

तर्कबुद्धि, श्रुति एवं आस्था (Reason, Revelation and Faith)

धार्मिक ज्ञान का स्वरूप (Nature of Religious Knowledge)

धार्मिक ज्ञान का अर्थ है वह ज्ञान जो किसी धर्म के अनुयायी समान रूप से स्वीकारते हैं। उदाहरण के लिये 'ईश्वर का अस्तित्व है', 'आत्मा पुनर्जन्म ग्रहण करती है', 'मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक की प्राप्ति होती है' जैसे कथन विभिन्न धर्मों के अनुयायियों हेतु धार्मिक ज्ञान हैं। धार्मिक ज्ञान के संबंध में मूल समस्या यह है कि क्या इसे 'ज्ञान' माना जा सकता है? यदि हाँ, तो इसका स्वरूप क्या है, अर्थात् यह किस प्रकार का ज्ञान है?

ज्ञान मुख्यतः दो प्रकार का होता है- परिचयात्मक ज्ञान (knowledge through acquaintance) तथा वर्णनात्मक ज्ञान (knowledge through description)। परिचयात्मक ज्ञान का अर्थ है वह ज्ञान जो हमारी पाँच बाह्य व एक आंतरिक इंद्रियों को साक्षात् रूप में होता है। इंद्रिय संवेदनों व मनोदशाओं का ज्ञान इसी प्रकार का है। यह ज्ञान पूर्णतः आत्मनिष्ठ है तथा इसे पूर्ण वस्तुनिष्ठता के साथ संप्रेषित नहीं किया जा सकता।

वर्णनात्मक ज्ञान वह ज्ञान है जो भाषा के माध्यम से संप्रेषित हो सकता है। यह वस्तुनिष्ठ तथा सार्वजनिक ज्ञान होता है। यह भी दो प्रकार का है- आकारिक (Formal) तथा तथ्यात्मक (Factual)। आकारिक ज्ञान प्रागनुभविक तार्किक ज्ञान है जिसका प्रयोग गणित व तर्कशास्त्र में किया जाता है। इसकी अभिव्यक्ति विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों में होती है। यह ज्ञान अनिवार्य होता है, किंतु अनुभव-निरपेक्ष होने के कारण कोई तथ्यात्मक सूचना नहीं देता। तथ्यात्मक ज्ञान वह है जो अनुभवाश्रित होता है एवं जिसका प्रयोग प्राकृतिक विज्ञानों व सामाजिक विज्ञानों में किया जाता है। यह अनुभव, निरीक्षण व परीक्षण आदि विधियों पर टिका होता है तथा जगत के संबंध में वास्तविक सूचनाएँ देने के कारण संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों में व्यक्त होता है। यह अनिवार्य कभी नहीं हो सकता, सिर्फ संभाव्य होता है।

धार्मिक ज्ञान इन तीनों ही प्रकारों में शामिल नहीं होता। वह परिचयात्मक ज्ञान नहीं है क्योंकि धर्म के अनुयायी इसका साक्षात् अनुभव नहीं करते। पुनः धर्म के समर्थक धार्मिक ज्ञान को वस्तुनिष्ठ मानते हैं, जबकि परिचयात्मक ज्ञान आत्मनिष्ठ होता है। धार्मिक ज्ञान आकारिक ज्ञान भी नहीं है क्योंकि यह संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों में व्यक्त होता है तथा अनुभवातीत या पारलौकिक सत्ता के वास्तविक अस्तित्व का दावा करता है, जबकि आकारिक ज्ञान प्रागनुभविक व विश्लेषणात्मक होता है। इसी प्रकार, धार्मिक ज्ञान तथ्यात्मक ज्ञान भी नहीं है क्योंकि तथ्यात्मक ज्ञान अनुभव पर आधारित होता है, जबकि यह सामान्यतः अनुभव से परे है। पुनः आनुभविक ज्ञान के परीक्षण, निरीक्षण की निश्चित विधियाँ होती हैं जबकि इसके परीक्षण, निरीक्षण की निश्चित विधियाँ नहीं हैं, और जो विधियाँ बताई जाती हैं (जैसे- चमत्कार इत्यादि), वे खुद संदिग्ध हैं। फिर, तथ्यात्मक ज्ञान सिर्फ संभाव्य होता है जबकि धर्मों के समर्थक धार्मिक ज्ञान को अनिवार्य मानते हैं।

स्पष्ट है कि धार्मिक ज्ञान, ज्ञान की तीनों ही कोटियों में शामिल नहीं होता। कुछ ईश्वरवादियों ने इस निष्कर्ष के विरोध में दावा किया कि धार्मिक ज्ञान आनुभविक या तथ्यपरक होता है क्योंकि धर्म के कई समर्थकों को विशेष प्रकार का अनुभव होता है जिसमें वे पारलौकिक सत्ताओं का साक्षात् अनुभव प्राप्त करते हैं। इस अनुभव को रहस्यात्मक अनुभव कहा जाता है। इस तर्क के विरुद्ध तार्किक भाववादी दार्शनिक ए.जे. एयर का दावा है कि रहस्यात्मक अनुभव से किसी बाह्य सत्ता को सिद्ध नहीं किया जा सकता। उससे अधिक से अधिक यही सिद्ध होता है कि किसी व्यक्ति को साधारण अनुभवों से भिन्न विशिष्ट अनुभव हुआ है।

मुक्ति/मोक्ष (Liberation)

भारतीय दर्शन में बंधन की धारणा (Concept of Bondage in Indian Philosophy)

भारतीय दर्शन में चार्वाक के अतिरिक्त सभी संप्रदाय जीवन को दुखमय मानते हैं। उनका दावा है कि यह जीवन बंधन का परिणाम है। जब जीव बंधन का शिकार हो जाता है तो कर्म-चक्र में उलझकर बार-बार जन्म लेता रहता है और दुःख भोगता है। लगभग सभी दर्शनों में सहमति है कि बंधन का मूल कारण अज्ञान या अविद्या है। विभिन्न दार्शनिक संप्रदायों ने बंधन की व्याख्या अपने-अपने दृष्टिकोण से की है जिसे संक्षेप में देखा जा सकता है—

- 1. बौद्ध दर्शन:** बौद्धों ने बंधन की व्याख्या 'द्वादशांग चक्र' के माध्यम से की है। द्वादशांग चक्र की अंतिम कड़ी में बंधन का मूल कारण अविद्या को बताया गया है। बंधनग्रस्त होने के बाद जीव अर्थात् विज्ञान-प्रवाह दुखों से भरे संसार में पुनर्जन्म ग्रहण करता रहता है।
- 2. जैन दर्शन:** इनके अनुसार जीव स्वभावतः 'अनंतचतुष्टय' युक्त है लेकिन जब उसका 'अनंत चतुष्टय' ढक जाता है तो वह बंधन में फँस जाता है। ऐसा अविद्या या वासना के कारण होता है। कार्मिक पुद्गल जीव की ओर प्रवाहित होते रहते हैं जिसे 'आप्तव' कहा गया है। जब जीव के भीतर घुसकर ये कर्म पुद्गल उसे बांध लेते हैं तो बंधन की अवस्था उत्पन्न होती है।
- 3. सांख्य दर्शन:** सांख्य ने बंधन की व्याख्या भिन्न प्रकार से की है। उसके अनुसार आत्मा या पुरुष तो शुद्ध चैतन्यस्वरूप तथा अपरिणामी है। अतः वह न तो बंधन में फँसता है, न मुक्त होता है। जब बुद्धि में उसका प्रतिबिंब जगमगाता है तो ऐसा प्रतीत होता है कि यह पुरुष ही है। जब पुरुष प्रकृति और उसके विकारों से तादात्म्य महसूस करता है तो यही अवस्था बंधन कहलाती है। इसमें जीव तीन प्रकार के दुख भोगता है— आधिदैविक, आधिभौतिक व आध्यात्मिक। बंधन का नाश तभी संभव है जब जीव आत्म और अनात्म में स्पष्ट भेद समझ ले और प्रकृति व उसके विकारों से अपनी भिन्नता को पहचान ले। योग दर्शन ने भी बंधन की यही व्याख्या स्वीकार की है।
- 4. न्याय वैशेषिक:** न्याय वैशेषिक के अनुसार बंधन का मूल कारण अज्ञान है। आत्मा अज्ञान के कारण शरीर, मन और इंद्रियों से अपना भेद नहीं समझ पाती और स्वयं को उनसे संबद्ध मानकर बंधन की अवस्था में फँस जाती है। बंधन की अवस्था दुःखपूर्ण है। इसमें बार-बार जन्म लेकर दुःख भोगने पड़ते हैं। वैशेषिक दर्शन ने भी बंधन की व्याख्या इसी प्रकार मानी है।
- 5. मीमांसा दर्शन** के अनुसार यह जीवन बंधन का ही परिणाम है। मीमांसकों ने बंधन के लिये अज्ञान के स्थान पर अशुभ कर्मों को उत्तरदायी ठहराया। अशुभ कर्मों से व्यक्ति बंधनग्रस्त होता है किंतु निष्काम कर्म करके वह बंधन की अवस्था से बाहर निकल सकता है।
- 6. अद्वैत वेदांत** के अनुसार बंधन वास्तविक स्थिति नहीं है। यह सिर्फ एक प्रतीति है। आत्मा और ब्रह्म में अभिन्नता का संबंध है। बंधन तो जीव का होता है जो अविज्ञान में आत्मा या ब्रह्म का प्रतिबिंब है। जब जीव भूल जाता है कि स्वरूपतः वह आत्मा ही है तो वह स्वयं को शरीर, मन और इंद्रियों से संबद्ध समझने लगता है। यही स्थिति बंधन कहलाती है जो एक दुःखात्मक अवस्था है। इसमें जीव को बार-बार जन्म लेकर अपने कर्मों के अनुसार दुःख भोगने पड़ते हैं। इससे मुक्ति तभी संभव है जब जीव पर पड़ा हुआ माया का आवरण नष्ट हो जाए और जीव अपने ब्रह्मत्व को पहचान ले।
- 7. रामानुज के विशिष्टाद्वैतवाद** के अनुसार बंधन दुःखात्मक अवस्था है। यह मुख्यतः पूर्वजन्म के कर्मों का परिणाम है। कहीं-कहीं उन्होंने अविद्या को भी बंधन के कारणों में स्वीकार किया है।

पुनर्जन्म: भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन (Reincarnation : Indian and Western Philosophy)

पुनर्जन्म (Reincarnation)

पुनर्जन्म धर्मदर्शन की एक प्रमुख समस्या है। पुनर्जन्म का अर्थ है 'फिर से जन्म लेना' अर्थात् किसी व्यक्ति का इस संसार में एक से अधिक बार जन्म ग्रहण करना। इसका अर्थ है कि आज संसार में जो भी प्राणी हैं, वे किसी न किसी रूप में पहले भी थे और भविष्य में भी किसी न किसी रूप में विद्यमान रहेंगे। इस प्रकार, अमर आत्मा या चेतना का एक नाशवान शरीर को छोड़कर नए शरीर से जुड़ जाना ही पुनर्जन्म है।

भारत में पुनर्जन्म का समर्थन

भारतीय धर्मों में समर्थन

हिन्दू धर्म व भारतीय मूल के अन्य धर्म सामान्यतः पुनर्जन्म में विश्वास रखते हैं। जहाँ हिन्दू धर्म व जैन धर्म आत्मा की अमरता के आधार पर पुनर्जन्म मानते हैं, वहीं बौद्ध धर्म निरंतर चेतना-प्रवाह के अन्य शरीर से संबंधित होने को पुनर्जन्म मानता है। सिख धर्म में 'आत्मा के विकास का सिद्धांत' पुनर्जन्म को मान्यता प्रदान करता है जिसमें माना जाता है कि हर जन्म के पश्चात् आत्मा का निरंतर विकास होता रहता है।

भारतीय दर्शन के संप्रदायों में समर्थन

चार्वाक को छोड़कर सभी भारतीय दर्शन पुनर्जन्म का समर्थन करते हैं। चार्वाक आत्मा की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार, चेतना जीवित शरीर का ही लक्षण है तथा यह शरीर चार महाभूतों से मिलकर बना है जिसके जलने के पश्चात् कुछ भी लौटकर नहीं आ सकता। इसी संदर्भ में चार्वाकों की उक्ति है 'भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।'

सांख्य व योग दर्शन का मत शेष भारतीय दर्शनों से कुछ अलग है। इन्होंने आत्मा की व्याख्या पुरुष के रूप में की है जो कूटस्थ या अपरिणामी नित्य है। चूँकि यह अपरिवर्तनशील है, इसलिये इसका पुनर्जन्म लेना सांख्य के दृष्टिकोण से असंगत हो जाता है। इसलिये वे पुनर्जन्म की व्याख्या सूक्ष्म शरीर के माध्यम से करते हैं। सूक्ष्म शरीर प्रकृति के सूक्ष्म विकारों का समुच्चय है जिसमें बुद्धि, अहंकार तथा पाँच तन्मात्र शामिल हैं। जब व्यक्ति की मृत्यु होती है तो सिर्फ स्थूल शरीर नष्ट होता है जो पंचमहाभूतों से बना होता है। इस अवस्था में सूक्ष्म शरीर बचा रहता है तथा यही नया शरीर ग्रहण करता है। यह प्रक्रिया तब तक चलती रहती है जब तक अविद्याग्रस्त जीव कर्म बंधन से मुक्त नहीं हो जाता है।

बौद्धों ने स्थायी आत्मा का निषेध करते हुए भी पुनर्जन्म को स्वीकार किया है जो भारतीय दर्शन में अनूठा दृष्टिकोण है। बुद्ध ने कर्म सिद्धांत के आधार पर पुनर्जन्म को माना है। यहाँ पुनर्जन्म का अर्थ है शरीर की समाप्ति पर चेतना प्रवाह का किसी अन्य शरीर से संबद्ध हो जाना। यह संबंध इसलिये बनता है क्योंकि अतीत में किये गए कर्मों के संस्कार ऐसी अपेक्षा पैदा करते हैं। बुद्ध ने द्वादशांग चक्र में इसकी विस्तृत व्याख्या की है।

जो दार्शनिक पुनर्जन्म की व्याख्या आत्मा के माध्यम से करते हैं, उन सभी का मत सामान्यतः एक जैसा है। सिर्फ अद्वैत-वेदांत का दृष्टिकोण कुछ भिन्न है।

धार्मिक अनुभव (Religious Experience)

रहस्यवाद (Mysticism)

रहस्यवाद अंग्रेजी शब्द मिस्टिसिज़्म (Mysticism) का अनुवाद है जिसकी उत्पत्ति यूनानी शब्द 'Muo' से हुई है जिसका अर्थ है— मौन। अतः शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से रहस्यवाद का संबंध ऐसे अनुभव से है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति मौन हो जाता है अर्थात् उसकी अभिव्यक्ति करने में खुद को असमर्थ पाता है। सामी धर्मों में यद्यपि इसे प्रायः अस्वीकार किया जाता है तथापि विश्व के लगभग सभी धर्मों में कई महान रहस्यवादी हुए हैं जैसे ईसा मसीह, गौतम बुद्ध, लाओत्से, कबीर, संत पॉल इत्यादि। दर्शन के इतिहास में भी प्लेटो, प्लॉटिनस, मीस्टर एखार्ट, ब्रूनो, स्पिनोज़ा, बर्गसाँ तथा रूडोल्फ औटो जैसे अनेक दार्शनिकों पर रहस्यवाद का स्पष्ट प्रभाव दिखता है।

रहस्यवाद की विशेषताएँ

रहस्यात्मक अनुभव विश्व में अनेक व्यक्तियों को विभिन्न कालों में होता रहा है किंतु यह इतना अनूठा अनुभव है कि वस्तुनिष्ठ पद्धति से इसकी विशेषताएँ बताना अत्यंत कठिन है। तब भी, विलियम जेम्स तथा रूडोल्फ औटो इत्यादि धर्म दार्शनिकों ने रहस्यवाद की विशेषताएँ बताने का प्रयास किया है। विलियम जेम्स द्वारा प्रस्तुत की गई सूची इस संदर्भ में सर्वाधिक प्रामाणिक मानी जाती है। जेम्स के अनुसार रहस्यवाद की चार विशेषताएँ हैं—

1. अवर्णनीयता/अनिर्वचनीयता (Ineffability)
2. प्रज्ञानात्मकता (Noetic Quality)
3. क्षणिकता (Transiency)
4. निष्क्रियता (Passivity)

1. अवर्णनीयता

रहस्यवाद की सबसे प्रमुख विशेषता इसका अवर्णनीय होना है। विश्व के सभी रहस्यवादी इस अनुभव का वर्णन करने में खुद को असमर्थ पाते हैं। रहस्यात्मक अनुभव को 'गूंगे का गुड़' भी कहा गया है। इस अवर्णनीयता का मूल कारण यह है कि रहस्यात्मक अनुभूति इतनी अधिक अनूठी तथा आत्मनिष्ठ है कि सामान्य भाषा में उसके लिये कोई शब्द ही नहीं मिलता। सामान्य भाषा सामूहिक अनुभवों से बनती है, न कि रहस्यवाद जैसे वैयक्तिक अनुभवों से। रूडोल्फ औटो ने इसी संदर्भ में कहा है कि यह अनुभूति इतनी सरल और प्राथमिक है कि इसे किसी भी अन्य अनुभूति से व्याख्यायित नहीं किया जा सकता।

इस अनुभूति की अवर्णनीयता का दूसरा कारण यह है कि इसमें ज्ञाता, ज्ञेय का द्वैत मिट जाता है जबकि हमारे शेष सभी अनुभव इस द्वैत पर ही आधारित होते हैं। बर्गसाँ और सैमुअल अलेक्जेंडर का कथन है कि 'जब रहस्यवादी ईश्वर से एक हो जाता है तो उसका वर्णन करने के लिये वह बचता ही कहाँ है'। भारत के रहस्यवादी संत कबीर ने भी कहा कि ईश्वर और मैं एक ही हैं— "जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहीं।"

ईश्वर रहित धर्म/निरीश्वरवादी धर्म (*Religion Without God*)

निरीश्वरवादी धर्म (*Religion without God*)

धर्मदर्शन में यह महत्त्वपूर्ण विवाद है कि धर्म के लिये ईश्वर आवश्यक है अथवा नहीं। ईश्वरवादी धर्म दार्शनिक अपने धर्मों की प्रकृति के अनुकूल यह मानते हैं कि धर्म के लिये ईश्वर अनिवार्य है। मार्टिन्स्यू, गैलोवे और श्लायर माखर आदि ईश्वरवादियों ने धर्म की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए उसमें ईश्वर को अनिवार्य तत्व घोषित किया है। प्रो. फिलंट ने तो यहाँ तक कहा कि— “ईश्वरवाद से कम कुछ स्वीकार्य नहीं है और ईश्वरवाद से अधिक कुछ संभव नहीं है।”

समस्या यह है कि यह परिभाषा विश्व के सभी धर्मों पर लागू नहीं हो सकती। ऐसे कई धर्म हैं जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते, जैसे— बौद्ध धर्म, जैन धर्म और कंप्यूशियस धर्म। कई ऐसे धर्म भी हैं जो प्रकृति को ही अलौकिक रूप देने का प्रयास करते हैं, किंतु उनमें ईश्वर की स्पष्ट धारणा नहीं मिलती है, जैसे— ताओवाद, मानावाद, टोटमवाद इत्यादि। 19वीं-20वीं सदी में ऑगस्ट कॉम्ट, जॉन ड्यूवी, एरिक फ्रॉम और हक्सले जैसे मानववादियों ने भी नवीन विधि से मानववादी और प्रकृतिमूलक धर्म की स्थापना की है जिसमें ईश्वर की धारणा अस्वीकार्य है। इन सभी धर्मों को यदि हम धर्म की कोटि में शामिल करते हैं तो मानना होगा कि निरीश्वरवादी धर्म भी संभव है। दूसरा विकल्प यह है कि हम इन सभी को धर्म न मानकर सिर्फ आचार संहिताएँ मानें, जैसा कि ईसाई ईश्वरवादियों ने माना भी है।

वस्तुतः निरीश्वरवादी धर्म की संभाव्यता या असंभाव्यता का प्रश्न इस बात पर टिका है कि हम धर्म की क्या परिभाषा स्वीकार करते हैं? यदि हम धर्म के प्रमुख लक्षणों का विनिश्चयन करें तो निम्नलिखित तत्त्वों को धर्म के लिये अनिवार्य मान सकते हैं—

1. धर्म वह अभिवृत्ति है जो व्यक्ति के संपूर्ण जीवन को प्रभावित करती है, न कि किसी अंश विशेष को।
2. धर्म के प्रतीकों के प्रति पवित्रता और आस्था की भावना धार्मिक व्यक्ति में अवश्य होती है।
3. धर्म मनुष्यों के समूह को नैतिकता के सूत्र में बांधता है।
4. धार्मिक उद्देश्यों के प्रति प्रतिबद्धता और समर्पण की भावना धार्मिक व्यक्ति में अवश्य होती है।
5. धर्म मनुष्य को जीवन में विद्यमान दुःखों से पूर्ण मुक्ति का आश्वासन किसी न किसी रूप में अवश्य देता है।
6. धर्म यह व्याख्या अवश्य करता है कि जगत् और मनुष्य की वास्तविक सच्चाई क्या है। वह ईश्वर की धारणा चाहे स्वीकार न करे, किसी न किसी अलौकिक सत्ता (जैसे आत्मा) या स्थिति (जैसे निर्वाण) को अवश्य स्वीकारता है।
7. धर्म धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये निश्चित क्रियाविधि या कर्मकांड प्रस्तावित करता है।
8. धर्म में प्रार्थना की भूमिका महत्त्वपूर्ण होती है। प्रत्येक धर्म किसी न किसी रूप में प्रार्थना का विधान करता है।

किसी भी धर्म का निर्धारण उपरोक्त प्रतिमानों के आधार पर किया जा सकता है। इन्हीं आधारों पर हम विश्लेषण कर सकते हैं कि बौद्ध, जैन, कंप्यूशियस तथा अन्य प्रचलित धर्मों के दावे कितने प्रामाणिक हैं?

जहाँ तक बौद्ध, जैन और कंप्यूशियन धर्म का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि तीनों में ही ईश्वर की धारणा को अस्वीकार किया गया है। किंतु, इसके बाद भी सच यह है कि इन्हें धर्म मानने के लिये पर्याप्त कारण विद्यमान हैं। तीनों धर्म अपने भीतर आस्था रखने वाले व्यक्तियों के संपूर्ण जीवन पर प्रभाव डालते हैं। तीनों

धर्म एवं नैतिकता की अवधारणाएँ (Concepts of Religion and Morality)

धर्म दर्शन में एक मूल प्रश्न यह है कि धर्म व नैतिकता में पारस्परिक संबंध क्या है? क्या ये दोनों एक दूसरे से स्वतंत्र हैं; या परस्पर विरोधी हैं, या एक दूसरे पर निर्भर हैं, अथवा इनमें से एक तो दूसरे पर निर्भर है किंतु दूसरा पहले पर निर्भर नहीं है? विभिन्न धर्म दार्शनिकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से इनमें से किसी न किसी विकल्प को स्वीकार किया है।

धर्म व नैतिकता के संदर्भों का विश्लेषण करने से पूर्व यह अनिवार्य है कि हम धर्म व नैतिकता के अर्थ का स्पष्ट निर्धारण कर लें। धर्म शब्द का प्रयोग दो अर्थों में होता है। भारतीय दर्शन में व्यापक दृष्टि से धर्म का अर्थ है- स्वकर्तव्यपालन। यदि इस दृष्टिकोण से देखें तो धर्म व नैतिकता में कोई भेद नहीं रहता क्योंकि नैतिक दायित्वों की पूर्ति को ही यहाँ धर्म कहा गया है। वस्तुतः इस प्रश्न में 'धर्म' शब्द का प्रयोग 'रिलीजन' वाले अर्थ में किया गया है कि जिसे 'मजहब' या 'पंथ' भी कहा जा सकता है। इस दृष्टि से धर्म का तात्पर्य एक ऐसी व्यापक अभिवृत्ति से है जो मनुष्य के संपूर्ण जीवन को प्रभावित करती है, किसी न किसी अलौकिक सत्ता या अवस्था में आस्था रखती है तथा जिसमें ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक तीनों पक्ष अनिवार्यतः शामिल होते हैं।

'नैतिकता' भी एक जटिल संप्रत्यय है जिसका अर्थ विभिन्न दृष्टियों से निर्धारित किया जा सकता है। यहाँ नैतिकता के मूल्यात्मक अर्थ को स्वीकार किया जा सकता है, न कि संवेगात्मक या वर्णनात्मक अर्थ को। नैतिकता का संबंध व्यावहारिक जीवन के उन पक्षों से होता है जो किसी व्यक्ति को कोई कार्य करने या न करने हेतु प्रेरणा देते हैं। कानून व नैतिकता में अंतर है। कानून बाहरी जीवन से संबंधित होते हैं जबकि नैतिकता का संबंध आंतरिक जीवन से है; कानूनों का पालन दंड के भय से किया जाता है जबकि नैतिकता का पालन मूल्यों की आंतरिक प्रेरणा से। फिर, कानूनों का उल्लंघन प्रायः अपराध-बोध (Guilt Feeling) पैदा नहीं करता जबकि नैतिक नियमों का उल्लंघन करने पर व्यक्ति के मन में अपराध बोध उत्पन्न होता है। कुल मिलाकर, नैतिकता वह सामाजिक व्यवस्था है जो मनुष्य के आचरण का नियमन करती है ताकि व्यक्ति और समाज दोनों का जीवन बेहतर तरीके से चल सके।

नैतिकता की अवधारणा का विश्लेषण कुछ विशेषताओं के माध्यम से भी किया जा सकता है। नैतिकता की पहली विशेषता यह है कि इसका संबंध 'चाहिये-मूलक' कथनों से होता है, न कि 'है-मूलक' कथनों से; अर्थात् नैतिकता एक मानकीय (Normative) अवधारणा है, न कि वर्णनात्मक (Descriptive)। चाहिये-मूलक कथनों पर आधारित होने के कारण नैतिक कथन अनिवार्यतः परामर्शात्मक (Prescriptive) होते हैं। नैतिकता की दूसरी विशेषता उसकी सार्वजनीनता (Universality) है। इसका अर्थ है कि नैतिक नियम समान स्थितियों में समाज के सभी सदस्यों पर समान रूप से लागू होते हैं। नैतिकता की धारणा व्यक्ति विशेष या परिवार विशेष तक सीमित नहीं होती बल्कि पूरे समाज पर लागू होती है। नैतिकता की तीसरी विशेषता यह है कि इसमें व्यक्ति के व्यक्तिगत हितों की तुलना में सामाजिक हितों को प्राथमिकता दी जाती है। उदाहरण के लिये, जो व्यक्ति समाज या देश पर संकट आने पर अपने हितों की कुर्बानी देते हैं, उन्हें नैतिक माना जाता है और जो अपने हितों पर ही ध्यान देते हैं, उन्हें अनैतिक माना जाता है। चौथी विशेषता यह है कि नैतिक नियमों के

धार्मिक बहुलवाद एवं निरपेक्ष सत्य की समस्या (Religious Pluralism and the Problem of Absolute Truth)

धर्म दर्शन की एक प्रमुख जिज्ञासा यह भी है कि विभिन्न धर्मों में आपसी संबंध क्या है? क्या एक ही धर्म प्रामाणिक है, क्या सभी धर्म अपने-अपने दृष्टिकोण से प्रामाणिक हैं या कोई भी धर्म प्रामाणिकता का दावा करने में सक्षम नहीं है? इसी से एक समस्या यह भी उठती है कि विभिन्न धर्म जिन आस्थाओं का दावा करते हैं, उनमें से किसका दावा सत्य माना जा सकता है और किसका नहीं? यदि विभिन्न धर्म यह दावा करें कि उनका 'सत्य' सापेक्ष रूप से प्रामाणिक है तो कोई विशेष समस्या नहीं है; किंतु विश्व के अधिकांश धर्म अपने पास 'निरपेक्ष सत्य' होने का दावा करते हैं। इसी संदर्भ में कुछ दार्शनिकों ने 'धार्मिक बहुलवाद' तथा 'निरपेक्ष सत्य' की समस्या पर विचार किया है।

निरपेक्ष सत्य के दावों पर कौन-कौन से विकल्प संभव है?

'जोसेफ रुंजे' ने बताया है कि 'निरपेक्ष सत्य' के दावों के संबंध में विभिन्न धर्मों के मूल्यांकन से संबंधित छः दृष्टिकोण संभव हैं—

- धर्मविरोधी या निरीश्वरवादी (Atheist) मत:** इस मत के समर्थक वे सभी विचारक हैं जो भौतिकवाद, धर्मनिरपेक्षतावाद या मानववाद जैसी विचारधाराओं से संबंधित हैं और किसी भी अलौकिक आस्था को निरर्थक मानते हैं। उदाहरण के लिये कार्ल मार्क्स, ऑगस्ट कॉम्ट, जॉन ड्यूवी इत्यादि। इन सबका दावा है कि 'निरपेक्ष सत्य' के संबंध में सभी धर्मों के दावे गलत हैं। इनका तर्क है कि विज्ञान के विकास ने सभी धर्मों की गलत मान्यताओं को खंडित कर दिया है जिससे सिद्ध होता है कि कोई भी धर्म 'निरपेक्ष सत्य' का दावा नहीं कर सकता।
- धार्मिक व्यावर्तवाद (Religious Exclisivism):** इस मत के समर्थक मानते हैं कि 'निरपेक्ष सत्य' का दावा एक ही धर्म उचित रूप से करता है जबकि शेष सभी धर्म गलत मान्यताओं को ही 'सत्य' समझते हैं। इसका समर्थन ईसाई धर्म में कार्ल बार्थ, रीनोल्ड नीबुर, एमिल ब्रूनर आदि ने किया है। इसके अतिरिक्त, सभी धर्मों के कट्टरपंथी विचारक किसी न किसी किसी रूप में इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हैं।
- धार्मिक निहितत्त्ववाद (Religious Inclusivism):** इस मत के अनुसार एक धर्म पूर्णतः 'सत्य' है जबकि शेष धर्म उसी के द्वारा बताए गए 'सत्यों' की व्याख्या करते हैं। ये व्याख्याएँ देखने में अलग-अलग लग सकती हैं किंतु तात्त्विक रूप से ये उसी पर आधारित होती हैं।
- धार्मिक आत्मनिष्ठतावाद (Religious Subjectivism):** इस मत के अनुसार सभी धर्म अपनी-अपनी दृष्टि से उचित हैं। प्रत्येक धर्म के अनुयायी अपने धर्म द्वारा प्रदत्त सत्यों को निरपेक्ष मानते हैं। इस मत के अनुसार प्रत्येक धर्म अपने अनुयायियों की दृष्टि से सत्य है।
- धार्मिक बहुलवाद (Religious Pluralism):** इस मत के समर्थक मानते हैं कि 'निरपेक्ष सत्य' एक ही है, सभी धर्म उसी पर आधारित हैं किंतु जिस प्रकार से विभिन्न धर्म निरपेक्ष सत्य की व्याख्या करते हैं उससे 'सापेक्षता' तथा 'आत्मनिष्ठता' उत्पन्न हो जाती है। इसलिये 'मूल सत्य' एक है किंतु सभी धर्म उसी 'मूल सत्य' तक पहुँचने के विभिन्न मार्ग हैं।
- धार्मिक सापेक्षवाद (Religious Relativism):** इसका अर्थ है कि सापेक्ष रूप से सभी धर्म ठीक हो सकते हैं। इस मत के समर्थकों के अनुसार किसी धर्म का सत्य या असत्य से संबद्ध होना इस आधार पर तय होता है कि उसका जगत् संबंधी दृष्टिकोण क्या है? इसी आधार पर विभिन्न धर्मों को ऊँच-नीच के क्रम में सापेक्षतः सत्य या असत्य माना जा सकता है।

धार्मिक भाषा की प्रकृति (*Nature of Religious Language*)

धार्मिक भाषा (*Religious Language*)

धार्मिक भाषा की समस्या 20वीं सदी के धर्मदर्शन की एक प्रमुख समस्या है। मध्यकाल के एक-दो दार्शनिकों जैसे मोसेस मेमोनाइड्स तथा संत थॉमस एक्वाइनस ने इस संबंध में थोड़ी बहुत चर्चा की थी किंतु यह समस्या समकालीन दर्शन में ही पहली बार महत्वपूर्ण बनकर उभरी। विट्गेंस्टीन ने अपनी पहली पुस्तक 'ट्रेक्टेट्स' में 'अर्थ का चित्र सिद्धांत' प्रस्तुत किया जिससे प्रेरणा लेकर तार्किक भाववादियों ने 'अर्थ का सत्यापन सिद्धांत' बनाया। इन सिद्धांतों ने धार्मिक भाषा को 'असंज्ञानात्मक' सिद्ध किया। इसके विरुद्ध कुछ धर्म समर्थक दार्शनिकों जॉन हिक, बेसिल मिचेल तथा पॉल टिलिक इत्यादि ने अपने-अपने तरीके से इसे संज्ञानात्मक या अर्द्ध संज्ञानात्मक सिद्ध करने का प्रयास किया। आगे चलकर 1953 ई. में विट्गेंस्टीन की दूसरी पुस्तक 'फिलॉसफिकल इन्वेस्टिगेशन' छपी जिसमें उसने 'उपयोग सिद्धांत' प्रस्तुत किया। अब उसने माना कि कोई ऐसी वस्तुनिष्ठ व निश्चित कसौटी नहीं हो सकती जिसके आधार पर हर कथन का मूल्यांकन किया जा सके। कथन की सार्थकता का निर्धारण उसके उपयोग के संदर्भ से होता है। इस सिद्धांत ने धार्मिक भाषा के महत्व को पुनः स्थापित किया। संक्षेप में, धार्मिक भाषा की समस्या 1920 से 1960 ई. तक प्रबल रूप से दर्शन में बनी रही जिसे सामान्यतः तार्किक भाववाद का समय माना जाता है।

असंज्ञानात्मक सिद्धांत (*Non-Cognitive Theory*)

तार्किक भाववाद के समर्थकों तथा उससे प्रभावित दार्शनिकों का दावा है कि धार्मिक भाषा के कथन असंज्ञानात्मक होते हैं। कई तर्कों के माध्यम से उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया।

ए.जे. एअर, रुडोल्फ कार्नेप तथा मौरिज श्लिक का मत

तार्किक भाववाद के प्रसिद्ध दार्शनिकों ए.जे. एअर, कार्नेप तथा श्लिक ने सत्यापन सिद्धांत के आधार पर धार्मिक कथनों को असंज्ञानात्मक सिद्ध करने का प्रयास किया। सत्यापन सिद्धांत के अनुसार वही कथन सार्थक हो सकता है जो या तो सत्य सिद्ध किया जा सके या असत्य। विश्लेषी कथन हमेशा सार्थक होते हैं क्योंकि उनकी सत्यता या असत्यता कथन के आकार से ही सिद्ध हो जाती है। संश्लेषी कथनों में कुछ कथनों का अनुभव से सत्यापन हो सकता है, जैसे- 'फूल लाल है' या 'बरसात हो रही है' इत्यादि। जिस संश्लेषी कथन को अनुभव से सत्य या असत्य सिद्ध किया जा सके, वह भी सार्थक है। किंतु, संश्लेषी कथनों में कुछ ऐसे कथन भी होते हैं जिनकी अनुभव से परीक्षा हो ही नहीं सकती। ऐसे कथन न सत्य सिद्ध होते हैं, न असत्य। इसलिये ये निरर्थक कथन हैं। धार्मिक भाषा के कथन इसी प्रकार के होते हैं। वे कथन या तो तत्त्वमीमांसीय होते हैं, जैसे 'ईश्वर कालातीत है' या नीतिमीमांसीय होते हैं, जैसे 'सदा सत्य बोलना चाहिये' और कभी-कभी सौंदर्यात्मक हो सकते हैं, जैसे 'जगत् के कण-कण में ईश्वरीय सौंदर्य है'। ये सभी कथन संश्लेषी हैं किंतु ऐसी कोई परीक्षण विधि नहीं है जिससे इन्हें सत्य या असत्य सिद्ध किया जा सके। अतः धार्मिक भाषा असंज्ञानात्मक है। धार्मिक कथन संवेगात्मक दृष्टि से सार्थक हो सकते हैं किंतु संज्ञानात्मक दृष्टि से नहीं।

